शोध मंथन Vol. XIII No.III July-Sept. 2022 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.783 (SJIF)

कृत्रिम आवश्यकतायें एवं उपभोक्ता मनोवृत्ति

प्राप्तिः 03.08.2022
स्वीकृतः 16.09.2022

63

प्रो० नन्दलाल मिश्र
प्रोफेसर एवं संकायाध्यक्ष, कला संकाय
म०गां० चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, सतना (म०प्र०)
ईमेलः *nandlalmishra11@gmail.com*

मेधा मिश्रा
शोधार्थी
म०गां० चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, सतना (म०प्र०)

सारांश

व्यक्ति की आवश्यकताओं और इच्छाओं का अन्त नहीं होता। उसका अन्तहीन सिलसिला अनवरत चलता रहता है। ''तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा''। इच्छायें जीर्ण नहीं होती हमारी अवस्था ही बूढ़ी हो जाती है। ये हमारी जिन्दगी में गतिशीलता लाती है। इसलिये इन आवश्यकताओं की भी आवश्यकता है, अन्यथा जिन्दगी ठहरती हुई–सी प्रतीत होगी, आविष्कार रुक जायेगा। वर्तमान समय में इस आवश्यकता शब्द ने अपना स्वरूप इतना फैला दिया है कि इसका परिसीमन अत्यन्त जटिल लगता है। इस पर विचार करना इसलिये अपरिहार्य है कि यही तो वह जड़ है, जिसकी हमें तलाश है। इसी का तो स्वरूप विकराल है जो हमें पथभ्रष्ट बनाता है। हमें अपनों से अलग करता है और इसी में थोड़ा वैचारिक परिवर्तन हमें, अपनों से जोड़ देता है। व्यक्तिगत आवश्यकतायें और सामाजिक आवश्यकतायें इतनी बढ़ गयी हैं कि उनकी पूर्ति करना मुश्किल हो रहा है।

मुख्य बिन्दु

आवश्यकता, कृत्रिमता, उपभोक्ता मनोवृत्ति, प्रतिबल, कुण्ठा।

प्रस्तानवना

आवश्यकताओं का स्वरूप जहाँ व्यक्ति से लेकर समाज तक फैला हुआ है वहीं इसे देशज से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप में भी देखा जा सकता है। कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति और समाज के लिये आवश्यक है वहीं कुछ की बिल्कुल जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा और मानसिक सन्तुष्टि के कारण इनकी पूर्ति मानव को आवश्यक दीख पड़ती है। इतना अवश्य है कि इसका स्वरूप आज मानव समाज को चैन से बैठने नहीं देता। एक मानव अप्रत्यक्ष से लेकर प्रत्यक्ष स्तर पर दूसरे मानव को परेशान कर रहा है, दूसरे का अधिकार छीन लेता है, फिर भी सन्तुष्ट नहीं रहता, बेचैन रहता है।

- ऐसा क्यों?
- इस प्रकार के क्रिया–कलाप की जड़ क्या है?
- इन आवश्यकताओं के वर्तमान स्वरूप ने समाज को किस सीमा तक प्रभावित किया है?

आज चतुर्दिक परिवर्तन और विकास की तेज हवा चल रही है। सम्पूर्ण विश्व इससे प्रभावित है। परिवर्तन की प्रक्रिया में कुछ चीजें टूटती हैं तो कुछ नयी चीजें जुड़ती हैं, कुछ नये का निर्माण होता है और इसी को विकास कहा जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं इस वर्तमान की प्रक्रिया में असन्तुलन प्रधान तत्व होता है जिसे परिवर्तन और विकास के माध्यम से सन्तुलित करने का प्रयास किया जाता है। इसी प्रक्रिया से आवश्यकतायें जन्म लेती हैं, इसी विकास की प्रक्रिया से दूसरे का अधिकार छिन जाने का खतरा रहता है और इसी परिवर्तन से किसी के सन्तुष्टि का नया मार्ग निकलता है। यदि किसी असन्तुलन को दूर करना है तो नये असन्तुलन को न्यौता देना कहाँ तक तर्कसंगत है? मानव की कुछ मूलभूत आवश्यकतायें होती हैं, जिनकी पूर्ति उनके जीवन के लिये आवश्यक है अन्यथा उनमें नैराश्य और विद्रोह जन्म लेता है। आज मानव परिवर्तन के दबाव में अपने साथ आत्मघाती समझौता करता हुआ दिख रहा है, सब–कुछ दिखावे के लिये सब–कुछ क्षणिक सन्तुष्टि के लिये। अन्दर से खोखला पर बाहर से पुख्ता, सामाजिक प्रतिष्ठा स्थापित करने की चाह में।

इस श्रृंखला में व्यावहारिक आवश्यकताओं को समझना आवश्यक है, इसके बाद हम यह देखेंगे कि वास्तव में एक व्यक्ति की क्या आवश्यकतायें होनी चाहिये। यदि उनकी पूर्ति न हो तो मानव की सोच किस प्रकार नकारात्मक हो सकती है।

मानव के दो स्वरूप हैं– एक तो वह जिसके पीछे समाज ही उसका परिवार है। ऐसे वर्ग में संन्यासी, ब्रह्मचारी, साधु–सन्त एवं महन्त हैं (यदि वास्तविकता उनमें है)। दूसरा गृहस्थ वर्ग, जिसके ऊपर पारिवारिक जिम्मेदारी है। इन दोनों श्रेणियों के लोगों का व्यक्तित्व तीन प्रकार का है– सत्व व्यक्तित्व, रज व्यक्तित्व और–तम व्यक्तित्व। व्यक्ति चाहे सन्त हो या फिर गृहस्थ यदि उसका व्यक्तित्व रजोगुणी अथवा तमोगुणी प्रकार का है तो उसकी आवश्यकताओं में अस्थिरता आयेगी। सतोगुणी व्यक्ति की आवश्यकतायें एक सीमा के अन्दर होती हैं। उनके विचार में समभाव होता है चाहे लाभ हो या हानि, दोनों स्थिति में वे सन्तुष्ट दिखते हैं किन्तु अन्य दो प्रकार वे के व्यक्तित्व में ऐसा नहीं होता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आज भारतवर्ष में सतोगुणी व्यक्तित्व का ह्रास हो गया है जहाँ छोटे से संस्थान से लेकर बड़े संस्थानों तक व्यक्ति अपनी निष्ठा, अपनी ईमानदारी और अपने चरित्र को छोटी–सी कीमत पर बन्धक रख दिया है।

आवश्यकताओं का सैद्धान्तिक पक्ष

आखिर ऐसा क्यों? इसका उत्तर सहज है। हमारी आवश्यकतायें जो अनन्त हैं, अपनी प्रतिपूर्ति माँगती हैं। छोटे वर्ग के लोग मध्यम और मध्यम वर्ग के लोग उच्च वर्ग में अपना स्थान सुनिश्चित करना चाहते हैं। इस होड़ में व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को भी नजर अंदाज करता हुआ केवल बाह्य आडम्बर के अधीन होकर दिखावा करने का स्वांग रचता है और स्वांग रचते–रचते कुण्ठित हो जाता है, दिशाहीन हो जाता है, प्रतिवल का शिकार हो जाता है जिससे वह शायद ही उबर पाता हो। यह व्यक्तित्व का आडम्बर है जो अस्थायित्व से लबालब है। यह व्यक्ति या समाज के लिये बेहद खतरनाक है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैसलो ने आवश्यकताओं के क्रम को बहुत ही वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया है। मैसलो ने आवश्यकताओं को एक निश्चित सोपानिक क्रम में समझने का प्रयास किया है। जब सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रमुख आवश्यकतायें सन्तुष्ट हो जाती हैं तो उसके बाद गौड़

आवश्यकतायें सामने आती हैं और सन्तोष चाहती हैं। सर्वप्रथम उसने बताया कि सोपानिक क्रम में मानव की शारीरिक आवश्यकतायें, जैसे– भूख, प्यास प्रमुख होती हैं। यदि इसे थोड़ा और व्यावहारिक धरातल दें तो हम समझ सकेंगे कि भूख–प्यास व्यक्ति के लिये रोटी, कपड़ा और मकान कहा गया है। मकान का अर्थ सुरक्षा से है जिसको मैसलो ने अपने सोपानिक क्रम में दूसरा स्थान दिया है– अर्थात् ये न्यूनतम आवश्यकतायें हैं। आगे बढ़ने पर मैसलो ने तृतीय स्थान पर प्रेम, चतुर्थ स्थान पर आदर पाने की आवश्यकता और पंचम स्थान पर आत्म–साक्षात्कार को रखा।

इसे गहराई से समझने पर यह आभास होता है कि आज भारतीय समाज उसके बताये हुये सोपान में ही उलझा हुआ है, जहाँ भारत की लगभग आधी जनसंख्या अपने पेट की क्षुधा शान्त करने में ही परेशान रहती है। कहाँ से इस समाज में आदर और प्रेम की भावना पनपेगी? हालांकि भारतीय सन्दर्भ में भी इसे व्याख्यायित करने का सफल प्रयास किया गया है और यहाँ लोग भारतीय संस्कृति के अनुरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के ढाँचे में अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं। किन्तु मुझे मैसलो की आवधारणा काफी सटीक लगती है। व्यक्ति की आवश्यकताओं में 'काम' का भी प्रमुख स्थान है पर 'काम' व्यक्ति की वह आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के बिना वह मर नहीं सकता और इसी को दृष्टिगत रखते हुये भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसे तीसरा स्थान दिया गया है जहाँ व्यक्ति छलांग लगाकर दूसरे, चौथे पर पहुँच सकता है। इसकी अनिवार्यता में शिथिलता दी गयी है। भारत के आध्यात्मवेत्ता डंके की चोट पर प्रमाणित करते हैं कि अर्थ, विभेद करती है, वह कभी परम सौख्य की ओर मानव समाज को कथमपि अग्रसर नहीं कर सकती।

आज जब मानव अपनी न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति में लगा है, किसी तरीके से अपना पेट पालना चाहता है तो कहाँ से उस विकास की संकल्पना को प्रस्तुत कर दिया गया है जहाँ मानव अपने जड़ से कटकर भटक गया है। आज उसे पौष्टिक आहार की जरूरत महसूस नहीं होती। उसे जरूरत महसूस होती है टी.वी., फ्रीज, गाड़ी, किचिन मशीन, कूलर और ऐसी ही अन्य मशीनों की जो उसे अपंग बनाती हैं। रोटी का अभिप्राय कृषि तकनीक, कपड़े का अभिप्राय औद्योगिक तकनीक और मकान का अभिप्राय आधुनिक तकनीक के मकानों से लगाया जाने लगा है। यह सोच बुरी नहीं है, भारत जैसे बड़े जनसंख्या वाले देश में तकनीकों का प्रयोग तो अवश्यम्भावी हो गया है अन्यथा शायद ही पेट भरने को अन्न मिले, तन ढंकने को कपड़ा मिले और सिर ढंकने को छत मिले। परन्तु इसकी आधुनिक व्यवस्था ने लोगों के सामने प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है। आज औद्योगिक घराने कृषि फार्म बनाने लगे, उनका बाहरी व्यापार बढ़ गया। इस वर्ग ने चतुर्दिक अपना कारोवार बढ़ा दिया।

वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के चलते राष्ट्रों के बीच की दूरियाँ बहुत कम हो गयी हैं। इसका प्रभाव कुछ क्षेत्रों के लिये धनात्मक है, परन्तु कुछ क्षेत्रों के लिये तो बेहद खतरनाक है, जैसे– जन–संचार, मानवीय जीवन–शैली, नर–नारी की सामाजिक स्थिति, मानव की असीमित इच्छायें, मानवीय पुरुषार्थ का स्वरूप, आर्थिक विषमता की बढ़ती नयी शैली, सम्प्रदायवाद, आतंकवाद, मानवीय संवेदनशून्यता जैसे अनेक क्षेत्र इसकी गिरफ्त में आ गये हैं, जो मानवीय आवश्यकताओं को नये सिरे से परिभाषित करने की माँग करती है। आज के मानव में असन्तोष बढ़ता जा रहा है जिसे कारण व्यक्ति भौतिक द्वन्द्ववाद में फँसा नजर आ रहा है। बढ़ते जनसंचार के माध्यम, जिनको पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है, ने आज भारतीय संस्कृति को चारों तरफ से प्रभावित किया है, इसने आज मानव को नंगा कर दिया है। हमारे सामने इससे जहाँ विश्व की जानकारी मिलती है वहीं प्रतिदिन लगभग बीस घण्टे अनैतिक सम्बन्धों की जानकारी भी दी जाती है और यह सिद्ध करने का अनवरत प्रयास

जारी है कि विश्व में नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है। यह मात्र आडम्बर है। वैश्वीकरण और नर–नारी के अधिकारों को इस प्रकार परोसने का कार्य चल रहा है जिससे यह स्पष्ट होता है कि नारी केवल खेलने की वस्तु है, वह शुद्ध रूप से भौतिक वस्तु है जिसकी हमें बेहद आवश्यकता है अपने विकसित होने के प्रमाण के लिये। इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर खड़े हम भारतवासियों के लिये एक जिम्मेदार और प्रभावशाली व्यक्तित्व का कथन कि, ''हमें इससे कोई लेना–देना नहीं कि कौन महिला किस के साथ सोती है, हमें मतलब है तो सिर्फ इससे कि वहाँ कंडोम का प्रयोग होता है या नहीं।'' इसके लिये उन्हें विदेशी संस्थानों द्वारा 'मिसफिट' पुरस्कार दिया जाना क्या उनकी विद्वता और नैतिकता का प्रतीक है? नहीं, यह एक अप्रत्यक्ष और तीक्ष्ण प्रहार है जो भारतीय महिला के आधुनिक मानसिकता को प्रक्षेपित करता है, जो नारियों की प्रतिनिधि हैं। आज जिस तरह भारतीय नारी सुन्दरता को मंच पर खींचकर लाया जा रहा है और जिस तरह से उसे पुरस्कृत किया जा रहा है उससे स्पष्ट है कि नारी सुन्दरता आज बेचैन है, परेशान है, उसमें आपसी प्रतिस्पर्धा है, पुरस्कार पाने के लिये। लेकिन इतना अवश्य है कि उसका स्वरूप विकृत है, भयावह है, जिससे भारतीय समाज के टूटने का खतरा है। सबसे भयावह स्थिति यह है कि आज भारतवर्ष की नारियाँ भी उसके विकृत स्वरूप के साथ समझौता करती हुई दिखती हैं। उसमें सहयोग ही नहीं करती अपितु आयोजन का कार्य भी कर रही हैं। पता नहीं उस सुन्दरता को निर्धारित करने की विमा क्या है? यदि शारीरिक सुन्दरता मापदण्ड है तो अपने विचार में परिवर्तन लाना आवश्यक है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह सही रास्ते पर है, लेकिन यदि शारीरिक सुन्दरता से हटकर कुछ और भी उसकी आवश्यक विमा है तो निःसन्देह यह विकृत व्यवस्था है और उस विकृत व्यवस्था को स्वीकृति देने के पूर्व अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन की स्वीकृति देना अनिवार्य है।

विदेशी वस्तुओं का भण्डार जिस व्यक्ति के पास है, जिसके पास अथाह सम्पत्ति है, जो व्यक्ति आधुनिक गाड़ी में नंगा चलता है, गर्मी जिसको बर्दाश्त नहीं, शोशण करना जिसका जन्म सिद्ध अधिकार है, वही आज समाज का आदर्श है। एक व्यक्ति जिसको भरपेट भोजन नसीब नहीं है, पहनने के लिये कपड़ा नहीं है, वह भी नंगा है परन्तु दोनों तरीके के नंगापन में काफी अन्तर है। यह भारतीय परिवेश की आज की तस्वीर है। आंकड़े चाहें कुछ भी कहें परन्तु यह हकीकत है, यह सच्चाई है जिसको झुठलाया नहीं जा सकता।

आज सभी कुछ यन्त्र पर निर्भर है यहाँ तक कि मानव को भी यंत्र बना दिया गया है, समाज को भी यन्त्र बनाने का प्रयास किया जा रहा है। क्या मानव यंत्र बनकर अपने विशेषण को सुरक्षित रख सकता है। यह कथमपि सम्भव नहीं है। यही वजह है कि आज भारतवर्ष में उस परम्परा ने जन्म ले लिया है जहाँ सतोगुणी व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव–सा हो गया है। यंत्रवत व्यवस्था में संवेदनशीलता का सर्वथा अभाव होता है। हमारी स्वतन्त्रता वहीं तक सीमित है जहाँ तक वह यंत्र घूम सकता है।

उपभोक्तावाद मनोवृत्ति

जहाँ तक उपभोक्ता मनोवृत्ति का प्रश्न है उसमें काफी परिवर्तन आया है। उपभोक्ता और कोई नहीं बल्कि हम और आप ही तो हैं जो ग्राहक बनकर अपनी आवश्यकतानुसार उपभोगी वस्तुओं की माँग करते हैं। हमें सोचना है कि हम किन–किन वस्तुओं की माँग करते हैं और उनकी पूर्ति कैसे सम्भव होती है। दातून की जगह ब्रश, चाय की जगह कॉफी, खाने की वस्तुओं में बना बनाया भोजन का पैकेट, पैर के लिये चमड़े का खूबसूरत जूता, रंगीन टेलीवीजन, कपड़ा धोने की मशीन, सब्जी

काटने से लेकर रोटीबनाने तक की मशीन, टिकाऊ कपड़े की जगह फैशन वाले कपड़े, छोटे से छोटे कार्य और फैशन के लिये आधुनिक तकनीकी से बने सामान सभी की माँग हम धड़ल्ले से करते हैं जो विकसित समाज की निशानी है। इससे जहाँ एक तरफ विकास की झलक हमें प्राप्त होती है वहीं दूसरी तरफ इस विकास के परिणाम से उस पर प्रश्न चिन्ह भी लगता है। इस विकसित समाज में अनिद्रा, बैचेनी, प्रतिबल, अवसाद, कुण्ठा और नैराश्य आसानी से देखा जा सकता है। हमें अपनी आवश्यकताओं का परिसीमन करना चाहिये अन्यथा हमारी मनोवृत्ति में भयानक विकृति आ सकती है, जो हमारे लिये, परिवार के लिये, समाज एवं देश के लिये खतरनाक होगी।

हरेक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उपयोग में आने वाली वस्तु में टिकाऊपन चाहता है, परन्तु आज इसका सर्वथा अभाव है। ग्राहक का मन बार–बार टूटता है, बार–बार आशान्वित होता है, वह यह नहीं समझता कि आज के विकास का तो यही स्वरूप है। सबकुछ टेक्नीकल पर संधृत नहीं। हमें लुटना है आज के विकास के विक्रेताओं से और लूटना है अपने समाज और देश को अन्यथा हम अपनी आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकेंगे? हम कैसे उस कमजोर उत्पाद को खरीदने की हिम्मत करेंगे, जो अत्यन्त ही कमजोर है, जिस पर आज की अर्थ–व्यवस्था टिकी है। कहाँ गयी भारतीय मोक्ष की वह संकल्पना, जो अब भी कहीं छिपी है जो पूरी ताकत से भारतवर्ष में संघर्ष कर रही है। हमें उसे खोजना ही होगा अन्यथा हमें हार तो स्वीकारनी ही पड़ेगी।

सन्दर्भ

1. मिश्रा, एन.एल. (2000). विकास की चुनौतियाँ एवं अन्तर्द्वन्द्व, मधुकर प्रकाशन, आगरा।
2. तिवारी, अरूण (2005). विकास के आयाम, भार्गव प्रकाशन, दिल्ली.
3. सिंह, आर.सी. (2007). आई.सी.टी. एण्ड सस्टेनेबिल डेवलपमेण्ट, शर्मा प्रकाशन, आगरा.
4. दुबे, एस.सी. (1998). विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.